ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. No.- 105-108
ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

शब्द की अवधारणा : न्याय और मीमांसा के परिपेक्ष्य में

डॉ0 कामना शर्मा

पूर्व शोध अध्येता– मनोविज्ञान, यूजीसी–नेट, आईसीपीआर – जेआरएफ, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ0प्र0), भारत

Received-29.04.2024, Revised-06.05.2024, Accepted-11.05.2024 E-mail: aaryvart2013@gmail.com

सारांश: *शब्द की अवधारणा के विषय में न्याय और मीमांसा दोनों ही दर्शनों में अपने–अपने ढंग से विचार किया गया है। न्याय और मीमांसा दोनों ही दर्शन शब्द को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं, अर्थात् दोनों ही दर्शनों में यह माना गया है कि ज्ञान जिस साधन से प्राप्त होता है उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों के अतिरिक्त शब्द भी एक स्वतंत्र प्रमाण होता है। आप्त–वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्त यथार्थ वक्ता को कहते हैं। आप्त पुरूष परमात्मा या ईश्वर और जीवात्मा रूप से द्विविध है। इस प्रकार आप्त पुरूष के आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। वाक्य पद से मिलकर बना होता है। पद को 'शक्त' कहा गया है। इस पद से यह अर्थ जाना जाएगाए इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के विचारो में मतभेद हैं।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द और पद में अंतर होता है। यहाँ पर हम पद अथवा वाक्य का विचार न करके शब्द के स्वरूप के विषय में विचार करेगे।

कुंजीभूत शब्द– *न्याय, मीमांसा, दर्शन, स्वतंत्र प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आप्त–वाक्य, आप्त पुरूष परमात्मा, जीवात्मा रूप।*

शब्द के स्वरूप के विषय में, पहला प्रश्न यह उठता है कि शब्द का तात्विक स्वरूप क्या होता है? अर्थात् वह द्रव्य होता है अथवा गुण होता है? दूसरा प्रश्न यह उठता है कि शब्द उत्पन्न होता है अथवा अभिव्यक्त होता है? तीसरा प्रश्न यह उठता है कि वह कितने प्रकार का होता है? चौथा प्रश्न यह उठता है कि वह नित्य होता है? अथवा अनित्य होता है?

उपर्युक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में न्याय और मीमांसा दोनों ही दर्शनों में विवेचन किया गया है। इसलिए इन्हें निम्न प्रकार से विभाजित करके व्याख्यायित किया जा सकता है:

(क) न्याय दर्शन में शब्द का स्वरूप

(ख) मीमांसा दर्शन में शब्द का स्वरूप

(क) न्याय दर्शन में शब्द का स्वरूप– शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि शब्द का तात्विक स्वरूप क्या होता है? प्राचीन न्यायदर्शन के अनुसार, शब्द आकाश का गुण होता है, चूँकि गुण हमेशा गुणी के साथ रहता है। अतएव शब्द आकाश में रहता है और यह श्रोतेन्द्रिय (कानों) द्वारा सुना जाता है। इस सम्बन्ध में न्यायसूत्र में कहा गया है,

गन्ध–रस–रूप–स्पर्श–शब्दाः पृथिव्यादिगुणा स्तदर्थाः।। न्यायसूत्र 1/1/14।

अर्थात् ''गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, तथा शब्द, क्रम से पृथ्वी, जल आदि पाँच भूतद्रव्यों के गुण, इन्द्रियों के अर्थ (विषय) कहे जाते हैं।'' अर्थात्, न्यायसूत्र के अनुसार, जैसे गन्ध, रूप, रस, स्पर्श तथा शब्द क्रमशः पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश द्रव्य के गुण कहे जाते हैं और इन्द्रियों के विषय कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में, न्यायसूत्र के अनुसार, शब्द श्रोतेन्द्रिय का विषय होगा। इसी प्रकार न्यायमंजरी में कहा गया है, ''शब्द आकाश का गुण है और यह भी कि, जिस प्रकार इच्छा–द्वेष आदि आत्मा के गुण सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार शब्द आकाश का गुण सिद्ध होगा।''[1] तथा ''शब्द में आकाशाश्रितत्व श्रोतग्राहाता के आधार पर ही कल्पित होती है।''[2] अर्थात्, न्यायमंजरी के अनुसार भी शब्द आकाश द्रव्य का गुण होता है तथा यह श्रोतेन्द्रिय का विषय होता है।

चूँकि आकाश एक द्रव्य है और शब्द उसका गुण है। अतः यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शब्द आकाश द्रव्य में किस सम्बन्ध से रहता है? न्याय दर्शन के अनुसार, द्रव्य और गुण में समवाय सम्बन्ध होता है। इसलिए आकाश और शब्द में समवाय सम्बन्ध होता है। इस प्रकार शब्द आकाश द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि आकाश द्रव्य में रहने वाला शब्द जब श्रोतेन्द्रिय द्वारा सुना जाता है, तो वह उत्पन्न होता है? अथवा रूप, रस, गन्ध आदि गुण की तरह अभिव्यक्त होता है?

प्राचीन न्याय दर्शन के अनुसार, शब्द उत्पत्ति धर्मवाला होता है, अर्थात् शब्द की उत्पत्ति होती है न कि अभिव्यक्ति और यह कण्ठ, तालु आदि की सहायता से उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में न्यायसूत्र में कहा गया है,

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च। न्यायसूत्र, 2/2/18।

अर्थात ''पूर्व में शब्द के उच्चारण करने के शब्द की प्राप्ति न होने से और वर्तमान शब्द के प्रतिबन्धक आवरणादिकों के उपलब्ध न होने से भी।'' अर्थात्, जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है, तो तभी वह होता है, उससे पहले हमें नही सुनाई देता है और यह भी हम नही कह सकते हैं, कि शब्द किसी आवरण से ढका हुआ था, इसलिए नही दिखाई दिया, क्योंकि आवरण भी नही होता है। इसलिए शब्द उत्पन्न होता है न कि अभिव्यक्त होता है। अनित्यता के सम्बन्ध में न्यायसूत्र में कहा गया है,

आदिमत्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ।। न्यायसूत्र 2/2/13।

अर्थात्, ''शब्द कारणवाला होता है, ऐन्द्रियक होता है और अनित्य (कार्य के समान) की तरह व्यवहार होने से अनित्य होता है।'' अर्थात्, शब्द की उत्पत्ति किसी न किसी कारण से होती है और जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी होता है। अतः शब्द अनित्य होता है। यह श्रोतेन्द्रिय इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसका व्यवहार भी अनित्य पदार्थों की तरह होता है, जैसे अनित्य पदार्थ व्यवहार

अनुरूपी लेखक/संयुक्त लेखक

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

करते है, वैसे ही शब्द भी व्यवहार करता है। इसलिए भी शब्द अनित्य होता है।

प्राचीन न्याय दर्शन के समान ही नव्य न्याय दर्शन में भी शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि शब्द आकाश द्रव्य का गुण होता है और यह श्रोतेन्द्रिय के द्वारा सुना जाता है। इस सम्बन्ध में न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में शब्द का लक्षण बताते हुए कहा गया है,

आकाशस्य तु विज्ञेयेः शब्दो वैशेषिको गुणः। न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक–44।
घ्राणस्य गोचरो गन्धों गन्धत्वादिरपि स्मृतः ।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोअपि च श्रुतेः ।। न्यायसिद्धान्त मुक्तावली,श्लोक 53।

अर्थात् 'आकाश का शब्द ही विशेष गुण है' तथा ''घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्धगुण, गन्धत्व, जाति और 'आदि' शब्द से सुरभित्व, असुरभित्व तथा गन्धाभाव और गन्धत्वाभाव का ग्रहण होता है। उसी तरह रसगुण, रसत्वजाति, रसाभाव और रसत्भाव का रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है। रसज्ञा का अर्थ रसनेन्द्रिय है। उसी प्रकार शब्द, शब्दत्व, शब्दाभाव और शब्दात्वाऽभाव का ग्रहण श्रोतेन्द्रिय से होता है।''

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्राचीन और नव्य–न्याय दर्शन में शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त समानता है। राधाकृष्णन न्याय दर्शन में व्याख्यायित शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते है, ''आकाश जो समस्त देश को व्याप्त किए हुए है, किन्तु वायु नहीं, शब्द का अधिष्ठान है''[3] अर्थात्, राधाकृष्णन के अनुसार, आकाश जो कि वायु नहीं है, वह शब्द का अधिष्ठान है। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार, शब्द आकाश का गुण होता है। यह अनित्य होता है। यह दो प्रकार का होता हैः वर्णरूप शब्द, ध्वनिरूप शब्द। हम भाषा में वर्णरूप शब्द का ही प्रयोग करते है।

(ख) मीमांसा दर्शन में शब्द की अवधारणा– मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, धर्म की स्थापना करना। धर्म की स्थापना करने के लिए मीमांसा दर्शन वेदों का सहारा लेता है और वेदों को अपौरुषेय प्रमाणित करता है, अर्थात् मीमांसा दर्शन के अनुसार, वेदों की रचना, किसी पुरूष विशेष ने नहीं की है। ना ही ईश्वर ने ही की है। इसलिए मीमांसा दर्शन वेदों को अपौरूषेय मानता है। वेदों को अपौरुषेय मानने के कारण यह शब्दों को भी नित्य मानता है (क्योंकि वेद शब्द आधारित होते हैं) और शब्द को नित्य मानने के कारण शब्दार्थ, शब्द–अर्थ सम्बन्ध को भी नित्य मानता है। जबकि न्याय दर्शन वेदों को ईश्वर की रचना मानता है। इसलिए वह शब्दों को भी अनित्य मानता है और उससे प्रतिपादित अर्थ को भी अनित्य मानता है तथा शब्द–अर्थ सम्बन्ध को भी अनित्य मानते हैं।

मीमांसकों के अनुसार, नैयायिकों की इच्छामात्र से शब्द के अनित्यत्व का निर्धारण नहीं हो सकता है। इसलिए इस पर विचार करना आवश्यक है कि शब्द अनित्य है अथवा नित्य? आचार्य कुमारिल के अनुसार, ''यह सत्य है कि नैयायिकादि भी अपनी–अपनी रीति से शब्द के द्वारा अर्थबोध की इच्छा रखते हैं। किन्तु उन लोगों की इच्छा मात्र से तो वह होगा नहीं। अतः उनकी जो इस प्रसंग में रीति या न्याय है, उसके द्वारा अर्थ विषयक बोध हो सकता है अथवा नहीं–इसका निरुपण आवश्यक है।''[4] अर्थात् नैयायिकों की इच्छामात्र से शब्द अनित्य नहीं हो जायेगा, उसका परीक्षण करना आवश्यक है कि वह अनित्य है या नित्य?

मीमांसकों के अनुसार शब्द नित्य ही होता है, क्योंकि बिना शब्द की नित्यता के हमारा व्यवहार नहीं चल सकता है। कुमारिल के अनुसार, ''शब्द के कूटस्थ नित्य होने से ही नित्य व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है, अतः शब्द की कूटस्थ नित्यता के बिना कोई भी पदार्थ अनादि व्यवहार का विषय नहीं हो सकता।।''[5] अर्थात् कुमारिल कहते है कि शब्द के नित्यता के कारण ही नित्य व्यवहार की उपपत्ति होती है। दूसरे शब्दों में, यदि शब्द नित्य न हो, तो नित्य व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकती है। कुमारिल दूसरी युक्ति देते है और कहते है, ''सादि घट प्रभृति वस्तुओं का भी व्यवहार तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि शब्द की नित्यता स्वीकृत न हो। अर्थात् सादि घटादि वस्तुओं के अनादि व्यवहार भी शब्दनित्यत्वमूलक हो हैं।''[6] अर्थात् कुमारिल के अनुसार, घट आदि वस्तुओं का व्यवहार तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक शब्द की नित्यता को स्वीकार न किया जाए। इस प्रकार मीमांसको के अनुसार, शब्द नित्य होता है।

मीमांसकों के अनुसार, न्याय दार्शनिक शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए, जो तर्क देते हैं। वह ठीक नहीं है। उनके अनुसार (नैयायिकों), शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है और कृतक या कार्य के समान व्यवहार करता है। इसलिए शब्द अनित्य है। मीमांसक इसका खण्डन करते हैं और कहते हैं कि शब्द अभिव्यक्त होने के कारण नित्य होता है। शाबरमुनि के अनुसार, ''क्षठे सूत्र में पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि प्रयत्न के बाद शब्द का प्रत्यक्ष (उपलम्भ) होने से वह (शब्द)कृतक (अनित्य) है। परन्तु यदि हम स्पष्ट कारण या हेतु बताकर शब्द की नित्यता को सिद्ध कर देगें तब तो उसके नित्यत्व के बल पर यह कह सकते हैं कि शब्द उच्चारण प्रयत्न के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

अर्थात् जो शब्द उच्चारण के पूर्व अभिव्यक्त नहीं है, वह (शब्द, प्रयत्न के द्वारा किया जाता है। अतः प्रयत्न के पश्चात् उसकी उपलब्धि का होना दोनों नित्य और अनित्य) पक्षों में समान है, एवं पूर्वपक्षी द्वारा दिया गया हेतु 'प्रयत्नानन्तरकाले दर्शनात्' अप्रयोजक और अनैकान्तिक भी है।''[7] अर्थात् शाबरमुनि के अनुसार, नैयायिकों द्वारा मान्य 'शब्द अनित्य है' हैः ठीक नहीं है, क्योंकि यदि हम स्पष्ट कारण बता देगें, तो यह स्पष्ट हो जाऐगा कि शब्द नित्य होता है। शाबरमुनि के अनुसार, नैयायिकों द्वारा शब्द की अनित्या के सम्बन्ध में दिया तर्क अप्रयोजक और अनैकान्तिक है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि शब्द नित्य ही होता हैं।

न्याय दार्शनिकों के अनुसार, हम शब्द को अभिव्यक्त नहीं मान सकते हैं, क्योंकि शब्द का उच्चारण करने से पहले, हम उसका ग्रहण नहीं करते हैं और यदि यह कहें, कि आवरण होने के कारण शब्द का ग्रहण नहीं हो पाता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि

आवरण का भी ग्रहण नहीं होता है। इस सम्बन्ध में न्यायसूत्र में यह कहा गया है,

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च। न्यायसूत्र 2/2/18।

अर्थात्''शब्द के उच्चारण के पूर्वकाल में शब्द का ग्रहण नहीं होता तथा शब्द नित्य एवं स्थिर होने के कारण उच्चारण के पूर्व में है, तो उसका ग्रहण न होने में प्रतिबन्ध करनेवाले को आवरण का भी ग्रहण नहीं होता, इस कारण शब्द नित्य नहीं हो सकता । किन्तु उच्चारण से वह शब्द उत्पन्न होने के कारण अनित्य है।'' अर्थात् जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है, तो तभी वह होता है, उससे पहले हमें नहीं सुनाई देता है और हम यह भी नहीं कह सकते कि शब्द किसी आवरण से ढका हुआ था, इसलिए नहीं दिखाई दिया, क्योंकि आवरण भी नहीं होता है। इसलिए शब्द उत्पन्न होता है, न कि अभिव्यक्त होता है।

मीमांसको के अनुसार, नैयायिकों द्वारा अनित्यता के सम्बन्ध में दिया गया तर्क व्यर्थ है, क्योंकि नैयायिक 'अनित्यता' को 'प्रयत्न से उत्पन्न' एवं 'उच्चारण के बाद स्थिर न रहने के कारण', इन दो हेतुओं से सिद्ध करते हैं, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि दोनों हेतुओं में से प्रत्येक की व्याप्ति 'अनित्यत्व' और 'कृतकत्व' इन दोनों ही साध्यों में समान रुप से है। (चूँकि हेतु को हमेशा साध्य के साथ रहना चाहिए, किन्तु यहाँ पर दोनों में से प्रत्येक हेतु, दोनों साध्यों के साथ हैं, जो कि उचित नहीं है।)

मीमांसा दार्शनिक कुमारिल के अनुसार, ''तत्र दर्शन' या प्रयत्यजन्यत्व का निश्चय एवं 'अस्थान' या उच्चारण के बाद चिरकाल तक न रहना। इन दोनों में जो कोई भी हेतु 'अनित्यत्व' अथवा 'कृतकत्व' इन दोनों में से जिस किसी एक साध्य के साधन के लिए प्रयुक्त होगा, वह दूसरे साध्य के साधन के लिए भी पर्याप्त होगा, क्योंकि दोनों हेतुओं में से प्रत्येक की व्याप्ति अनित्यत्व और कृतकत्व इन दोनों ही साध्यों से समान रुप से है।

अतः उक्त आक्षेप वृथा या बेकार है।''[8] अर्थात् हेतु को हमेशा साध्य के साथ होना चाहिए, किन्तु नैयायिकों द्वारा दिये गए तर्क में, एक ही हेतु दो साध्यों के साथ प्रयोग किया जा सकता है, अर्थात् एक हेतु के द्वारा जिस साध्य को सिद्ध किया जा रहा है, वहीं हेतु दूसरे साध्य को भी सिद्ध कर रहा है, जो कि उचित नहीं है।

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि मीमांसक के अनुसार,

सम्प्रदानात्।। न्यायसूत्र, 2/2/25।

अर्थात् ''जो पदार्थ किसी को दिया जाता है, वह स्थिर होता है, यह संसार में देखने में आता है, उपदेशरूप शब्द भी गुरू से शिष्य को दिया जाता है। अतः शब्द भी नित्य है।'' अर्थात् जब गुरू से शिष्य को विद्यादान दिया जाता है, तो वह इसलिए ही दिया जाता है, क्योंकि शब्द नित्य होता है। नैयायिक इसका खण्डन करते हैं और कहते हैं कि जब गुरू से शिष्य को विद्यादान दिया जाता है, तो मध्य में शब्द स्थित होगा, इसका क्या प्रमाण है। इसलिए शब्द अनित्य होता है

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार,

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः।। न्यायसूत्र, 2/2/26।

अर्थात्,''जिस गुरू से जिस शिष्य को उपदेशरूप शब्द दिया जाता है, उन दोनों के मध्य में वह उपदेशरूप शब्द स्थित है इसमें क्या प्रमाण है, प्रमाण न होने के कारण शब्द मध्य में स्थित होने से नित्य है यह कैसे सिद्ध होगा।।''

भाष्यकार वात्स्यायन, पूर्वपक्षी मीमांसकों का पक्ष रखते हुए कहते हैं कि मीमांसकों के अनुसार,

अभ्यासात्।। न्यायसूत्र, 2/2/29।

अर्थात् ''अभ्यास के कारण शब्द नित्य है। शब्द को अनेक बार बोलते देख कर अनुमान होता है कि शब्द भी नित्य है, क्योंकि शब्द अगर अनित्य होता, तो एक बार देखने के पश्यात् फिर उसका देखना सम्भव न होता।'' नैयायिक कहते हैं कि बार–बार उच्चारण करने से शब्द नित्य नहीं हो सकता है, क्योंकि अनित्य वस्तुओं का बार–बार उच्चारण होता है। जैसे– नृत्य, हवन तथा भोजन के भिन्न होने पर भी अभ्यास देखने में आता है। भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार,

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात्।। न्यायसूत्र, 2/2/30।

अर्थात्ए ''तुम दो बार नाचो, तीन बार नाचो, दो बार भोजन करता है, दो बार हवन करता है', इत्यादि व्यवहार नृत्य, भोजन, हवन इसके भिन्न होने पर भी देखने में आता है, अतः उसी का अभ्यास होता है यह पूर्वपक्षी का कहना असंगत है। अतः अभ्यास से शब्द स्थिर या नित्य है यह सिद्ध नहीं हो सकता।।'' अर्थात् नैयायिकों का मानना है कि मीमांसकों द्वारा दिया तर्क कि अभ्यास के कारण शब्द नित्य होता है। ठीक नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिकों के शब्द के अनित्यत्व सम्बन्धी विचारधारा का खण्डन करते हैं क्योंकि उनके अनुसार, शब्द नित्य होता है, क्योंकि हमें नित्य व्यवहार चारों तरफ परिलक्षित होता है अतएव शब्द नित्य होता है। शब्द इसलिए भी नित्य होता है, क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति होती है न कि उत्पत्ति होती है। शब्द की नित्यता का एक यह भी कारण है कि शब्द आकाश द्रव्य का गुण होता है, जो कि नित्य द्रव्य होता है । इसलिए शब्द भी नित्य होता है। गुरू से शिष्य को देने से तथा अभ्यास के कारण भी शब्द नित्य होता है।

इसके विपरीत न्याय दार्शनिक शब्द को आकाश द्रव्य का गुण मानते हैं इनके अनुसार शब्द कण्ठ, तालु एवं वायु आदि की सहायता से उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के कारण अनित्य होता है। दोनों ही दर्शनों के शब्द के नित्य और अनित्य होने का एक कारण यह भी है कि मीमांसक शब्द को अपौरूषेय होने के कारण नित्य मानता है और न्याय दार्शनिक पौरूषेय मानने के कारण अनित्य मानता है।

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-18, No.- II, Issues-32, YEAR- April-June-2024

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी प्रथम भाग, हिन्दीभाषानुवादक पण्डित आनन्द झा, सम्पादक किशोर नाथ झा, कामेश्वर–सिंह, दरभंगा–संस्कृत–विश्वविद्यालय, दरभंगाा, बिहार, 2001, पृ0 479.
2. जयन्त भट्ट,न्याय मंजरी प्रथम भाग, हिन्दी भाषानुवादक पण्डित आनन्द झा, सम्पादक किशोर नाथ झा, कामेश्वर सिंह, दरभंगा संस्कृत–विश्वविद्यालय, दरभंगाा, बिहार, 2001, पृ0 477.
3. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन खण्ड 2 हिन्दू धर्म–पुनर्जागरण काल से वर्तमान तक (अनुवादकः नन्दकिशोर गोभिल), राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2008, पृ0 88.
4. कुमारिल भट्ट, मीमांसाश्लोकवार्त्तिके, शब्दनित्यत्वाधिकरणम्, व्याख्याकार प0 दुर्गाधर झा, श्लोक–3, कुलसचिव, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1979, पृ0 885.
5. कुमारिल भट्ट, मीमांसाश्लोकवार्त्तिके, शब्दनित्यत्वाधिकरणम्, व्याख्याकार प0 दुर्गाधर झा, श्लोक–4, कुलसचिव, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1979, पृ0 885.
6. कुमारिल भट्ट, मीमांसाश्लोकवार्त्तिके, शब्दनित्यत्वाधिकरणम्, व्याख्याकार प0 दुर्गाधर झा, श्लोक–6, कुलसचिव, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1979, पृ0 886.
7. शबरस्वामी, शाबरभाष्यम्, व्याख्याकारः गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2004, पृ0 87.
8. कुमारिल भट्ट, मीमांसाश्लोकवार्त्तिके, शब्दनित्यत्वाधिकरणम्, व्याख्याकार प0 दुर्गाधर झा, श्लोक–8, कुलसचिव, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1979, पृ0 886.

*****